



मङ्गलायतन



श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का
मासिक मुखपत्र

वर्ष-12, अङ्क-10

दशधर्म विशेषाङ्क (वि.नि.सं. 2539) अक्टूबर 2013

साधु-स्तुति

ऐसे जैनी मुनि महाराज, सदा उर मो बसो ॥टेक ॥
जिन समस्त परद्रव्यनिमाहीं अहंबुद्धि तजि दीनी ।
गुन अनन्त ज्ञानादिक मम पुनि, स्वानुभूति लखि लीनी ॥
॥ऐसे०१ ॥

जे निजबुद्धिपूर्व रागादिक, सकल विभाव निवारैं ।
पुनि अबुद्धिपूर्वक नाशन को, अपनी शक्ति सम्हारैं ॥
॥ऐसे०२ ॥

कर्म शुभाशुभ बंध उदय में, हर्ष-विषाद न राखैं ।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, भाव सुधारस चाखैं ॥
॥ऐसे०३ ॥

पर की इच्छा तजि निजबल सजि, पूरव कर्म खिरावैं ।
सकल कर्मतैं भिन्न अवस्था, सुखमय लखि चित चावैं ॥
॥ऐसे०४ ॥

उदासीन शुद्धोपयोगरत सबके दृष्टा ज्ञाता ।
बाहिजरूप नगन समताकर, 'भागचन्द' सुखदाता ॥
॥ऐसे०५ ॥

**संस्थापक सम्पादक**

स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़

प्रधान सम्पादक

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन

सम्पादकीय सलाहकार

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल, जयपुर

पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन

श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर

श्री प्रवीणचन्द्र पी. चोरा, देवलाली

श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई

श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी

श्री विजेन वी. शाह, लन्दन

पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

सम्पादक मण्डल

ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण

बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़

डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

श्रीमती बीना जैन, देहरादून

भूतपूर्व मुख्य सलाहकार

स्व. साहू रमेशचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

मुख्य सलाहकार

श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़

मार्गदर्शन

डॉ. किरिटभाई गोसलिया, अमेरिका

श्री लक्ष्मीचन्द्र बी. शाह, लन्दन

श्री पवन जैन, अलीगढ़

पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

अङ्क के प्रकाशन में सहयोग
**श्रीमान् भीमजी
 भगवानजी शाह**
 हस्ते
श्री विजेन वी. शाह,
 लन्दन

शुल्क :

वार्षिक : 50.00 रुपये

एक प्रति : 04.00 रुपये

दशधर्म**विशेषाङ्क**

क्या / कहाँ

दशलक्षण मुनिधर्म	3
धर्म के दशलक्षण	6
निरन्तर स्मरण में रखना : क्या ?	16
आत्मा की क्रिया	22
आत्मा ही निर्मलधाम	24
मोक्ष शब्द से सात....	30
समाचार-दर्शन	31

पं. सं. : DELBIL/2001/4685

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा मङ्गलायतन मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर,
 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन।



सनातन दशलक्षणपर्व के अवसर पर-

दशलक्षण मुनिधर्म

धर्म का अभ्यास : क्यों और कैसे ?

प्राणीमात्र को सुख इष्ट है, वह भी सच्चा एवं अविनाशी। आत्मा का हित सुख है। सुख का स्वरूप निराकुलता है। परिपूर्ण निराकुलता मोक्षदशा में होती है; अतः मोक्षप्राप्ति का उपाय ही सुख का मार्ग है। तीर्थङ्करों ने मोक्षप्राप्ति का उपाय धर्म कहा है। धर्म, आत्मा के मोह-क्षोभरहित सुविशुद्ध परिणाम को कहा है। जीवादि नव पदार्थों के समीचीन ज्ञानपूर्वक निज शुद्धात्मद्रव्यसामान्य के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली स्वानुभवयुक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप एकाग्रता ही मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म है। मोक्षमार्गरूप एकाग्रता यथार्थ एवं दृढ़ तत्त्वनिर्णय होने पर ही बनती है। अविरोध तत्त्वनिर्णय, सम्यक् तत्त्वविचार के अभ्यास से बनता है। तत्त्वविचार का सम्यक् अभ्यास, स्वानुभवी ज्ञानी सत्पुरुष के समागम में सुगमता से बनता है। मार्गानुभवी ज्ञानी के समागम बिना, निज कल्पना से किया गया धर्माभ्यास अनर्थकारक हो जाता है। अतः ज्ञानी के समागम से प्राप्त हुई दृष्टि से धर्म का अभ्यास करना उचित है।

धर्म का मूल

ज्ञानी कहते हैं : सम्यक्चारित्र्य ही धर्म है, किन्तु उसका मूल स्वानुभूतियुक्त सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार भूमि के बिना वृक्ष नहीं उगते, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूप भूमि बिना व्रत, समिति, इन्द्रियनिरोध, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय इत्यादि चारित्र्यवृक्ष नहीं उगते। अतः सुखाभिलाषी का सर्व प्रथम कर्तव्य सम्यग्दर्शन प्रगट करना है। सम्यग्दर्शन होने पर मुमुक्षु के लिये मोक्ष का द्वार खुल जाता है। मोक्ष का साक्षात् साधन जो स्वरूपस्थिरतामय चारित्र्य, उसको प्रगट करने की कुंजी उसके हाथ में आ जाती है। सम्भव है कि सहज पुरुषार्थ की उग्रता की कमी के कारण वह चारित्र्यदशा न ले पावे, किन्तु उसके सत्य स्वरूप का सही पता उसको लग जाता है। 'संयम धर न सके, पर संयम धारनकी उर चटापटी।'



चारित्र का उपाय

स्व-परद्रव्य का एवं स्वभाव-विभाव का सही विभाजन करनेवाले निर्मल भेदज्ञान से ही परद्रव्य एवं परभाव से भिन्न निज त्रिकालशुद्ध अभेद ज्ञायकद्रव्य का आश्रयरूप से ग्रहण होता है। आश्रयरूप अभेद ज्ञायक शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प रुचि ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान युगपद होते हैं और तदुभयपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। अहो! मुनिराज के चारित्र की क्या बात कहें! प्रचुर शुद्धात्मसंवेदन युक्त आत्मस्थिरता ही मुनिराज का भावलिङ्ग है। मुनिराज को पञ्चाचार, व्रत, नियम, जिनभक्ति इत्यादि सर्व शुभभावों के समय अन्तर में भेदज्ञान की धारा, ज्ञातृत्वपरिणति और तीन कषाय के अभावस्वरूप शुद्ध चारित्रदशा निरन्तर चलती ही रहती है। शुभभाव नीचे ही रहते हैं; आत्मा ऊँचा का ऊँचा ही—ऊर्ध्व ही—रहता है। सब कुछ पीछे रह जाता है, आगे एक शुद्धात्मद्रव्य ही रहता है। ऐसे वीतराग मुनिराज को, अन्तरङ्ग शुद्धि सहित, वर्तनेवाले उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

न धर्मो धार्मिकैर्विना

मुनिधर्म का वर्णन करते हुए 'स्वामी कुमार' अपरनाम श्री कार्तिकेय-स्वामी कहते हैं कि जो रत्नत्रय से युक्त होता है, सदा उत्तम क्षमा आदि भावों से सहित होता है और सबमें मध्यस्थ रहता है, वह साधु है और वही धर्म है। उसका विशदार्थ यह है कि जो जीव, व्यवहार और निश्चयरूप अर्थात् भेदाभेदरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धारक होता है, उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से सदा परिणत रहता है और सुख-दुःख, तृण-रत्न, लाभ-अलाभ, और शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है; न किसी से राग और न किसी से द्वेष करता है, वह साधु स्वयं धर्म है, क्योंकि जिसमें वीतरागपरिणतिरूप धर्म है, वही तो धर्म की मूर्ति है, बिना धर्मात्मा, धर्म अन्यत्र कहीं नहीं रहता।

मुनिधर्म का सार : सुख

उत्तम क्षमा आदि भावों के भेदस्वरूप दस प्रकार का मुनिधर्म परमभक्ति



से जानना उचित हैं, क्योंकि उन भावों का सार, अर्थात् फल; सुख, अर्थात् मोक्ष है। मुनिधर्म के दस भेदों के नाम निम्न प्रकार हैं—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। इन दस धर्मों का सार सुख ही है, क्योंकि इनका, अन्तरङ्ग आत्माश्रित शुद्धपरिणतिसहित, पालन करने से मुनिराज को, यदि सराग-रत्नत्रययुक्त हो तो स्वर्ग का और वीतराग-रत्नत्रययुक्त हो तो मोक्ष का सुख प्राप्त होता है। दस धर्मों के पालन में मुनिराज को जितना शुभ रागांश है, वह आस्रव-बन्ध का कारण है और आत्माश्रित जितनी शुद्धपरिणति है, वह संवर-निर्जरा का कारण है।

धर्म का लक्षण उत्तम क्षमादि

श्री जिनेन्द्रदेव ने धर्म को 'उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपः-त्याग-आकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्य' इस प्रकार दश लक्षण युक्त कहा है। ख्याति व पूजादि की भावना की निवृत्ति के अर्थ 'उत्तम' विशेषण दिया है, अर्थात् ख्याति व पूजादि के अभिप्राय से धारी गयी क्षमा आदि 'उत्तम' नहीं है। ये दश धर्म साधुओं के लिये कहे गये हैं। उत्तम सुखसंयुक्त जिनेन्द्रदेव ने सागारधर्म के ग्यारह भेद और अनगारधर्म के उक्त दश भेद कहे हैं, परन्तु उत्तम क्षमादि दशधर्म यथासम्भव मुनि व श्रावक दोनों को ही होते हैं। उत्तम क्षमा है आदि में जिसके तथा जो दश भेदों से युक्त है, उस धर्म का श्रावकों को भी अपनी शक्ति और आगम के अनुसार सेवन करना चाहिए, ये धर्म अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जैसे क्रोधादि की निवृत्ति होय तैसे यथासम्भव होय हैं, और मुनिनि के प्रधानपने होय हैं। इन धर्मों में चूँकि संवर को धारण करने की सामर्थ्य है, इसलिए वे 'धारण करने से धर्म' इस सार्थक संज्ञा को प्राप्त होते हैं। इस हेतु से इन दशों को 'धर्म' कहते हैं। ●



धर्म के दशलक्षण

(1) उत्तम क्षमा

कोहेण जो ण तप्पदि सुर-णर-तिरिण्हिं कीरमाणे वि ।

उवसग्गे वि रउहे तस्स खमा णिम्मला होदि ॥394 ॥

देव, मनुष्य और तिर्यचों के द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी जो मुनिराज क्रोध से संतृप्त नहीं होते, उनके निर्मल (उत्तम) क्षमा होती है।

उपसर्ग के चार भेद हैं—देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत, और अचेतनकृत। जो मुनिराज, इन चारों ही प्रकार के भयानक अवसर पर, अपनी शुद्धात्मसाधनामय परिणति से विचलित नहीं होते हुए, समताभाव रखते हैं, अर्थात् अपने मन में भी क्रोध का भाव नहीं लाते, वे ही उत्तम क्षमा के धारी होते हैं। शास्त्रों में ऐसे क्षमाशील मुनियों के अनेक कथानक पाये जाते हैं।

उपसर्गविजेता क्षमाधारी के दृष्टान्त

(1) श्रीदत्त मुनिराज व्यन्तरदेव के द्वारा किये गये उपसर्ग को जीतकर निज शुद्धात्मद्रव्याश्रित वीतराग निर्विकल्प ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए और फिर मुक्त हो गये। (2) विद्युच्चर मुनि, चामुडा नाम की व्यन्तरी के द्वारा किये गये घोर उपसर्ग को सहनकर वीतराग निर्विकल्प समाधि के द्वारा सर्वार्थसिद्धि गये। (3) राजा श्रेणिक का पुत्र चिलातीपुत्र व्यन्तरी के द्वारा किये हुए उपसर्ग को सहनकर उत्कृष्ट ध्यान के बल से मरकर सर्वार्थसिद्धि गया। (4) स्वामी कार्तिकेय मुनि ने क्रोंच राजा के द्वारा किये गये उपसर्ग को साम्यभाव से सहनकर देवलोक प्राप्त किया। (5) गुरुदत्तमुनि, कपिल ब्राह्मण के द्वारा किये गये उपसर्ग को क्षमाभाव से सहनकर शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष गये। (6) दण्डकराजा ने पाँच सौ मुनियों को कोल्हू में पेल दिया और वे सभी समाधिमरण करके मुक्त हुए। (7) गजकुमार मुनि ने पांसुल सेठ के द्वारा किये गये घोर उपसर्ग को सहनकर मुक्ति प्राप्त की। (8) चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि, मन्त्री के द्वारा किये गये उपसर्ग को सहनकर शुक्लध्यान के द्वारा मुक्त हुए। (9) सुकुमालमुनि, शृगाली के



द्वारा खाये जाने पर शुभध्यान से मरकर देव हुए। (10) सुकोशलमुनि, व्याघ्री के द्वारा, जो पूर्व भव में उनकी माता थी, खाये जाने पर शान्तभावों से प्राण त्यागकर सर्वार्थसिद्धि गये। श्री पणिकमुनि, जल का उपसर्ग सहकर मुक्त हुए। बत्तीस श्रेष्ठिपुत्र नदी में बहने पर शुभध्यान से मरकर स्वर्ग में देव हुए। इस प्रकार घोर उपसर्ग आने पर भी जो क्षमाभाव से विचलित नहीं होते वे ही उत्तम क्षमा के धारी होते हैं।

विषम परिस्थिति में मुनिराज का चिन्तन

तपोवृद्धि के निमित्तभूत शरीर की स्थिति के लिये निर्दोष आहार की खोज में मुनिराज गृहस्थों के घर जाते हैं। उस समय दुष्ट मनुष्य उन्हें देखकर हँसते हैं, गाली बकते हैं, अपमान करते हैं, मारपीट करते हैं किन्तु क्रोध उत्पन्न होने के इन सब कारणों के होते हुए भी, अतीन्द्रिय शमरसमय प्रचुर स्वरूपस्थिरता के कारण, परिणाम में जरा भी कलुषता का न आना उत्तम क्षमा है। ऐसी विषम परिस्थिति बनने पर मुनिराज, विकल्पदशा में उत्तम क्षमाधर्म की अच्छाई एवं क्रोध की बुराइयों का विचार करते हैं। उत्तम क्षमा, व्रत और शील की रक्षा करनेवाली है, इसलोक और परलोक में दुःखों से बचाती है। उत्तमक्षमाशील मनुष्य का सब लोग सन्मान करते हैं। इसके विपरीत क्रोध, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का नाशक है। ऐसा सोचकर मुनिराज क्षमा धारण करते हैं।

क्षमा और क्षमाभास

मन्दकषायजनित शुभभावरूप क्षमा तो अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी साधु भी धारण करता है, किन्तु वह सच्ची क्षमा नहीं है, अपितु क्षमाभास है। क्रोधोत्पत्ति में कारणभूत उपसर्ग या आक्रोश आदि के समय यदि मैं क्षमा धारण न करूँ तो मुझे पापबन्ध होगा, या उसके फल में मुझे नरकगति के दुःख भोगने पड़ेंगे या मैं साधु हूँ; अतः क्रोध करना मुझे शोभास्पद नहीं है, या यदि मैं क्रोध करूँगा तो इतने लम्बे समय की मेरी साधना विफल हो जायेगी—इत्यादि परलक्ष्य से धारण की गयी क्षमा, वास्तविक क्षमा नहीं है। ज्ञानी धर्मात्मा का जीवन ही क्षमास्वभावी त्रिकालशुद्ध निज आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतामय अवलम्बन से सहज ऐसा बन जाता है कि क्रोधोत्पत्ति के कारण उपस्थित होने पर भी अन्तर में वीतराग क्षमापरिणति अपनी



अखण्डधारा से विचलित नहीं होती। मुनिराज को सहज प्रवर्तमान निर्मल क्षमापरिणति के साथ आनेवाले जो क्षमासम्बन्धी शुभविकल्प-सहनशीतलता को दृढ़ करने के लिये अनेकविध विचार, अन्य को क्षमाप्रदान करने के भाव—वे उपचार, अर्थात् व्यवहार क्षमा है। अन्तर में तदनुरूप शुद्धपरिणति प्रवाहित न हो तो वह व्यवहाराभास है।

क्षमा और उत्तम क्षमा

शुद्धात्मावलम्बी यथार्थ क्षमापरिणति का आंशिक आरम्भ चतुर्थ गुणस्थान से हो जाता है, किन्तु एक विवक्षा से वह, सम्यक् क्षमा होने पर भी, 'उत्तम क्षमा' नाम नहीं पाता। शुद्धात्माश्रित निर्मल क्षमापरिणति में जब संयमरूप आत्मस्थिरता का अंश मिलता है, तब वह 'उत्तमक्षमा' कही जाती है। सारांश यह है कि 'उत्तमक्षमा' तो अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय के अभावस्वरूप, अतीन्द्रिय आत्मशान्तिमय, स्वरूपरमणतायुक्त चारित्रदशा से परिणत नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनिराज को होती है, अविरत सम्यग्दृष्टि को नहीं। उसे शुद्धात्मावलम्बी सच्ची क्षमा होती है, किन्तु अपनी अविरति-भूमिकानुसार; चारित्रजनित उत्तम क्षमा की तुलना में स्वल्प।

(2) उत्तम मार्दव

मृदुता का भाव मार्दव है। त्रिकालशुद्ध निर्मानस्वभावी निज ज्ञायकद्रव्य के आश्रय से प्रगट होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय सहज विशुद्ध परिणति के बल से जाति, कुल, रूप, लाभ, बल, विद्या, अधिकार एवं तप इत्यादि का अभिमान छूट जाना मार्दव धर्म है।

उत्तम-गाण-पहाणो उत्तम-तवयरण-करण-सीलो वि।

अप्याणं जो हीलदि महव-रयणं भवे तस्स॥395॥

स्वानुभवविभूषित उत्कृष्ट ज्ञान एवं उत्कृष्ट तपयुक्त होते हुए भी जो उसका मद नहीं करते, वे मुनिराज उत्तम-मार्दवरूपी रत्न के धारी हैं। 'मैं सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूँ, कवि हूँ, वादी हूँ, गमक हूँ, चतुर हूँ, मेरे समान कोई भी विद्वान शास्त्रज्ञ अथवा कवि नहीं है' इस प्रकार अपने ज्ञान का तथा अनशनादि बारह प्रकार के तपों को और तेरह प्रकार के चारित्र को पालता हुआ भी, अपने तपश्चरण का गर्व नहीं करता, वह मुनि उत्तम मार्दव धर्म का धारी है। मुनिराज कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्र! मैं आपके ज्ञान



को नहीं पहुँच पाता। आपके एक समय के ज्ञान में समस्त लोकालोक और अपनी भी अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष युगपद् ज्ञात होते हैं। कहाँ आपका अनन्त अनन्त द्रव्य-पर्यायों को जाननेवाला अगाध ज्ञान और कहाँ मेरा अल्प ज्ञान! आप अनुपम आनन्दरूप से भी सम्पूर्णतया परिणमित हो गये हैं। कहाँ आपका पूर्ण आनन्द और कहाँ मेरा अल्प आनन्द!—इस प्रकार प्रत्येक साधक, द्रव्य-अपेक्षा से स्वयं को भगवान मानता होने पर भी, पर्याय-अपेक्षा से—ज्ञान, आनन्द, चारित्र, वीर्य इत्यादि सर्व पर्यायों की अपेक्षा से—अपनी पामरता जानता है। अतः ज्ञानी धर्मात्मा ज्ञान, तप, बल आदि किसी प्रकार का मद नहीं करता। त्रिकाल शुद्ध निर्मलस्वभाव के आश्रय से मद अर्थात् मान के दूर होने का नाम मार्दव है। अन्तरंग शुद्धपरिणतियुक्त 'उत्तम मार्दव धर्म' मुनिराज को होता है।

(3) उत्तम मार्दव

जो चिंतेऽ ण वंके ण कुणदि वंके ण जंपदे वंके ।

ण य गोवदि णिय-दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥396 ॥

ऋजुता, अवक्रता, सरलता, निर्दम्भता एवं मायाचाररहितता को आर्जव धर्म कहते हैं। ऋजुस्वभावी आत्मद्रव्य के आलम्बन से जिनको स्वरूपस्थिरतामय सहजदशा परिणमित हो गयी हैं, ऐसे मुनिराज, मन द्वारा कुटिल विचार नहीं करते, काया से कुटिल कार्य नहीं करते एवं वचन से कुटिल बात नहीं बोलते तथा अपना दोष नहीं छिपाते, यही उनका आर्जव धर्म है। मन-वचन-काया की सरलता का नाम आर्जव है। जिसके मन में, वचन में, एवं काया में मायाचार नहीं है तथा जो अपने अपराध को नहीं छिपाता, व्रतों में यदि अतिचार लगे तो अपनी निन्दा करता है—प्रायश्चित्त द्वारा उनकी शुद्धि करता है, वह श्रमण, उत्तमआर्जवधर्म का धारी है। वास्तव में सरलता ही गुणों की खान है। मायावी का कोई विश्वास नहीं करता तथा वह मरकर तिर्यञ्चगति में जन्म लेता है।

(4) उत्तम शौच

सम-संतोस-जलेण जो धोवदि तिव्व-लोह-मल-पुंजं ।

भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥397 ॥

निर्लोभता को शौचधर्म कहते हैं। जो मुनिराज समभाव और सन्तोषरूपी



जल से तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को धोते हैं तथा भोजन की गृद्धि नहीं करते, उनको निर्मल, अर्थात् उत्तम शौच धर्म होता है। शत्रु-मित्र आदि बाह्य वस्तुओं में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करे, राग-द्वेष न होने को साम्यभाव कहते हैं और प्राप्त पदार्थों में तृप्तिभाव होना-अधिक की तृष्णा नहीं होना, वह सन्तोष कहा जाता है। पदार्थों की अभिलाषारूप तृष्णा और प्राप्त पदार्थों की लिप्सारूप लोभ, ये सब मानसिक मल, अर्थात् गन्दगी है। इस तृष्णा और लोभरूप गन्दगी को जो समता और सन्तोषरूपी जल से धो डालते हैं, वे मुनि, शौचधर्म का पालक हैं। मुनि, कंचन और कामिनी का त्याग तो पहले ही कर देता है, शुद्धात्मसाधनायुक्त संयम-पालन के प्रयोजन से तन्निमित्तभूत शरीर की स्थिति के लिये विधिपूर्वक केवल निर्दोष भोजन करते हैं। अतः भोजन की तीव्र लालसा, अर्थात् उसमें तीव्र लुब्धता नहीं होना भी शौच धर्म का लक्षण है।

लोभकषाय के त्याग का नाम शौच है। लोभ के चार प्रकार हैं—जीवन का लोभ, नीरोगता का लोभ, इन्द्रिय का लोभ और उपभोग का लोभ। इनमें से भी प्रत्येक के स्व-पर आश्रित दो-दो भेद हैं, इनके त्याग का नाम शौच-धर्म है। शौचधर्म से युक्त मनुष्य का इसी लोक में सन्मान होता है, उसमें दानादि अनेक गुण पाये जाते हैं। इसके विपरीत लोभी मनुष्य के हृदय में कोई भी सद्गुण नहीं ठहरता; अतः लोभ का त्यागरूप शौचधर्म पालना चाहिए।

(5) उत्तम सत्य

जिण-वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि ।

ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो ॥398 ॥

जैनशास्त्रों में कहे हुए आचार को पालने में असमर्थ होते हुए भी जो जिनवचन का ही कथन करता है, उससे विपरीत कथन नहीं करता, तथा जो व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता, वह सत्यवादी है। सत्यवचन के दस भेद हैं—नाम सत्य, रूप सत्य, स्थापना सत्य, प्रतीत्य सत्य, संवृत्ति सत्य, संयोजना सत्य, जनपद सत्य, देश सत्य, भाव सत्य और समय सत्य। (1) सचेतन अथवा अचेतन वस्तु में नाम के अनुरूप गुणों के न होने पर भी, लोकव्यवहार के लिये जो इच्छानुसार नाम की प्रवृत्ति की जाती है, उसे 'नाम सत्य' कहते हैं, जैसे कि मनुष्य अपने बच्चों का 'इन्द्र' आदि नाम



रख लेते हैं। (2) मूल वस्तु के न होते हुए भी वैसा रूप होने से जो व्यवहार किया जाता है, उसे 'रूप सत्य' कहते हैं, जैसे पुरुष के चित्र में पुरुष के चैतन्य आदि धर्मों के न होने पर भी पुरुष की तरह उसका रूप होने से चित्र को पुरुष कहते हैं। (3) मूल वस्तु के न होते हुए भी प्रयोजनवश जो किसी वस्तु में किसी की स्थापना की जाती है, उसे 'स्थापना सत्य' कहते हैं, जैसे पाषाण की मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है। (4) एक दूसरे की अपेक्षा से जो वचन कहा जाता है, वह 'प्रतीत्य सत्य' है, जैसे अमुक मनुष्य लम्बा है। (5) जो वचन, लोक में प्रचलित व्यवहार के आश्रय से कहा जाता है, वह 'संवृत्ति सत्य' है, जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होने पर भी कमल को पंकज (कीचड़ से पैदा होनेवाला) कहा जाता है। (6) चूर्ण वगैरह से जो मांडना वगैरह की स्थापना की जाती है, उसमें जो यह कहा जाता है कि यह अमुक द्वीप है, यह अमुक जिनालय है—इसे 'संयोजना सत्य' कहते हैं। (7) जिस देश की जो भाषा हो, वैसा ही कहना 'जनपद सत्य' है। (8) ग्राम-नगर आदि का कथन करनेवाले वचन को 'देश सत्य' कहते हैं, जैसे जिसके चारों ओर बाड़ हो, वह गाँव है। (9) छद्मस्थ ज्ञान, वस्तु का यथार्थ दर्शन करने में असमर्थ होता है, फिर भी श्रावक अथवा मुनि अपना धर्म पालने के लिये जो प्रासुक और अप्रासुक का व्यवहार करते हैं, वह 'भाव सत्य' है। (10) जो वस्तु आगम का विषय है, उसे आगम के अनुसार ही कहना 'समय सत्य' है, जैसे पल्य और सागर वगैरह के प्रमाण का कथन करना।

—इन सत्य वचनों को बोलनेवाले मनुष्य में ही गुणों का वास रहता है, किन्तु जो झूठ बोलता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता। इसी लोक में उसकी जीभ कटवा दी जाती है, राजा उसका सर्वस्व छीन लेता है; अतः सत्य वचन ही बोलना चाहिए। सारांश यह है कि भाषा बोलना, आत्मा का कार्य नहीं है, किन्तु संयमपरिणत आत्मज्ञानी को अस्थिरतावश विकल्प के काल में यदि भाषा निकलने का योग होगा तो हित, मित और प्रियरूप ही होगा, सत्यरूप ही होगा। सत्य वचन या विकल्प धर्म नहीं है, अपितु उस समय मुनिराज को अन्तर में वर्तनेवाली आत्माश्रित शुद्धि ही धर्म है।



निश्चय से उस शुद्धि का नाम ही 'उत्तम सत्य' है। सत्य के विकल्प को या वचन को धर्म कहना, व्यवहार है।

(6) उत्तम संयम

जो जीव-रक्खण-परो गमणागमणादि-सव्व-कज्जेसु।

तण-छेदं पि ण इच्छदि संजम-धम्मो हवे तस्स ॥399 ॥

जीव की रक्षा में तत्पर जो आत्मज्ञानी मुनिराज गमनागमन आदि सब कार्यों में तृण का भी छेद नहीं करना चाहते, उन मुनिराज को 'उत्तम संयम' धर्म होता है। पाँच इन्द्रियाँ एवं मन को वश में करने के तथा पञ्च स्थावर और त्रसकायिक जीवों की रक्षा करने के शुभपरिणाम जिस आत्माश्रित शुद्धपरिणति के सद्भाव में सहजतया होते हैं, उस संवर-निर्जरा के हेतुभूत निर्मलपरिणति को निश्चय से 'उत्तम संयम' धर्म कहते हैं। आत्मशुद्धिरूप अन्तरङ्ग संयम से युक्त जो मुनि आना, जाना, उठना, बैठना, सोना, रखना, उठाना, भोजन करना, मलमूत्र त्यागना आदि कार्यों में जीवरक्षा का ध्यान रखते हैं, इन कार्यों में प्रवर्तते हुए पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, कीट, जूँ, पतंग, डांस, मच्छर, मक्खी, गाय, भैंस, घोड़ा, मनुष्य आदि किसी भी जीव को अपने निमित्त से कष्ट नहीं पहुँचाने देते, वे मुनि, परप्राणव्यपरोपण-विरामस्वरूप व्यवहार संयमधर्म के पालक होते हैं।

संयम के दो भेद हैं—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। तीन गुप्तियों का पालक मुनि, कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो राग-द्वेष का त्याग करते हैं उनके उपेक्षा-संयम होता है। उपेक्षा का अर्थ है उदासीनता अथवा वीतरागता। अपहृत संयम के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। अपने उठने-बैठने के स्थान में यदि किसी जीव-जन्तु को बाधा पहुँचती हो तो वहाँ से स्वयं हट जाना उत्कृष्ट अपहृत संयम है, कोमल मयूरपिच्छ से उस जीव को हटा दे तो मध्यम अपहृत संयम है और तिनके वगैरह से उस जीव को हटाये तो जघन्य अपहृत संयम है। ये सब कार्य पाँच समितियों की सीमा में रहकर ही होते हैं, अतः अपहृत संयमी मुनि को भी उनका पालन सहजरूप से होता ही है।



(7) उत्तम तप

इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो ।

विविहं काय-किलेसं तध-धम्मो णिम्मलो तस्स ॥400 ॥

जो समभावपरिणत श्रमण, इसलोक और परलोक के सुखों की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का कायक्लेश करते हैं, उनके निर्मल तपधर्म होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान एवं संयमपूर्वक शुद्धात्मस्वरूप विश्रान्त निस्तरङ्ग चैतन्य प्रतपन का नाम तप है। ऐसी आत्मशुद्धि के साथ भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डांस-मच्छर वगैरह के परीषह को सहना, तथा शीतऋतु में खुले स्थान पर, ग्रीष्मऋतु में पर्वत के शिखर पर और वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे योग धारण करने को कायक्लेश कहते हैं और अन्तरंग आत्मशुद्धिरूप तप के साथ होनेवाले ये कायक्लेशादि भी उपचार से तप हैं। उन्हीं मुनि का कायक्लेशादि बाह्य तप समीचीन कहा जाता है जो सुख-दुःख में, शत्रु-मित्र में, लाभ-अलाभ में, इष्ट-अनिष्ट में और तृण-कंचन में सहजतया समभाव रखते हैं, तथा इसलोक और परलोक के सुखों की चाह नहीं करते। शुद्धात्मप्रतपन एवं कर्मों का क्षय करने के उद्देश्य से जैनमार्ग के अनुकूल किये जानेवाला तप ही वास्तविक तप है, क्योंकि इससे ही समस्त इच्छाओं का सम्यक् प्रकार से निरोध होता है।

(8) उत्तम त्याग

जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं ।

वसदिं ममत्त-हेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स ॥401 ॥

शुद्धात्मस्थिरतारूप-संयमपरिणत जो, मिष्ट-भोजन को; राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले उपकरण को; तथा ममत्वभाव उत्पन्न होने में निमित्त वसति को छोड़ देते हैं—उनके प्रति मूर्च्छाभाव छोड़ते हैं—उन मुनि के उत्तम त्याग धर्म होता है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त पुरुष ही मुनिपद का अधिकारी होता है, अतः उनका त्याग तो वह मुनिव्रत धारण करते समय ही कर देता है। यहाँ त्याग धर्म में तो मुनि को जिन वस्तुओं से काम पड़ता है, उनके अनुराग छुड़ाने के लिये त्याग का ही निर्देश किया है। मुनि, संयम के पालन हेतु शरीर की स्थिति के लिये, निर्दोष भोजन लेते हैं,



किन्तु वे कामोत्पादक सरस आहार ग्रहण नहीं करते, संयम के उपकरण मयूरपिच्छ, कमण्डल आदि भी ऐसे नहीं रखते जिनसे परिणामों में राग उत्पन्न हो, तथा ऐसी जगह नहीं बसते, जिससे ममत्व पैदा हो, इसी का नाम त्याग धर्म है।

(9) उत्तम आकिञ्चन्य

ति-विहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं।

लोय-ववहार-विरदो णिगगंथत्तं हवे तस्स ॥402 ॥

जो लोकव्यवहार से विरक्त मुनि, चेतन और अचेतन परिग्रह को मन-वचन-काया से सर्वथा छोड़ देते हैं, उनके निर्ग्रन्थपना अथवा आकिञ्चन्य धर्म होता है। मुनि दान, पूजा, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, विवाह आदि लौकिक कार्यों से विरक्त होते ही हैं, अतः पुत्र, स्त्री, मित्र, बन्धुबान्धव आदि सचेतन परिग्रह तथा जमीन, जायदाद, सोना, चांदी, मणि-मुक्ता आदि अचेतन परिग्रह को तो पहले ही छोड़ देते हैं, किन्तु मुनिदशा में शिष्य, संघ आदि सचेतन परिग्रह से और पीछी, कमण्डल आदि अचेतन परिग्रह से भी ममत्व नहीं करते, इसी का नाम आकिञ्चन्य धर्म है। आनन्दनिधान निज शुद्धात्मस्वरूप के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है, अर्थात् 'यह मेरा है', इस प्रकार के संस्कार को दूर करने के लिये अपने शरीर वगैरह में भी ममत्व न रखना, यह आकिञ्चन्य धर्म है। शरीरादि से निर्ममत्व होने पर मोक्षपद की प्राप्ति होती है, किन्तु जो मुनि, शरीर में अनुराग करते हैं, उनको तपस्या में आदरभाव नहीं रहता। अधिक क्या कहें ? शरीर आदि से ममता रखनेवाला जीव सदा मोह की कीचड़ में ही फँसा रहता है।

(10) उत्तम ब्रह्मचर्य

जो परिहरेदि संगं महिलाणं णोव पस्सदे रूवं।

काम-कहादि-णिरीहो णव-विह-बंभं हवे तस्स ॥403 ॥

'ब्रह्म' में, अर्थात् शुद्ध-बुद्ध-आनन्दमय निज परमात्मतत्त्व में सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक लीन होने को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। परमानन्दमय निज आत्मा के रस का आस्वादन करना ही ब्रह्मचर्य है। आत्मा को भूलकर जिन परवस्तुओं में यह जीव, अनुरागपूर्वक लीन होता है, उनमें स्त्री प्रधान



है। अतः स्त्रीमात्र का, चाहे वह देवाङ्गना हो या मानुषी हो अथवा पशुयोनि हो, उसका अनुराग एवं संसर्ग जो छोड़ता है, उनके बीच में उठता-बैठता नहीं है, उनके जघन, स्तन, मुख, नयन आदि मनोहर अङ्गों को रागपूर्वक देखता नहीं है तथा उनकी रागपूर्वक कथा नहीं करता, उसी के मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का शुद्ध ब्रह्मचर्य होता है। जिनशासन में ब्रह्मचर्य, अर्थात् शील के अठारह हजार भेद कहे हैं। जिन्हें शास्त्र से जान लेना चाहिए।

जो साधक जीव, तरुणी स्त्री के कटाक्षरूपी बाणों से छेदा जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता, वही सच्चा शूर है। जो संग्राम में शूर है, वह शूर नहीं है। पृथ्वी पर मदोन्मत्त हाथी का गंडस्थल विदारण करनेवाले वीर पाये जाते हैं; कुछ उग्र सिंह को मारने में भी कुशल हैं, किन्तु कामदेव का मद चूर्ण करनेवाले मनुष्य विरल हैं। जिसने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को भी कामिनियों का दास बना दिया तथा जिसकी लीला का वर्णन वचनों से नहीं किया जाता, वह कामदेव बड़ा ही बलवान है। तभी तक पांडित्य, कुलीनता और विवेक रहता है, जब तक शरीर में कामाग्नि प्रज्वलित नहीं होती। यह वीर कामदेव क्षणभर में कलाकार को भी विकल कर डालता है, पवित्रता का दम्भ भरनेवाले को हंसी का पात्र बना देता है, पण्डित की विडम्बना कर देता है और धीर पुरुष को भी अधीर कर देता है। उल्लू को दिन में नहीं दिखायी देता, कौवों को रात्रि में नहीं दिखायी देता, किन्तु कामान्ध मनुष्य को न दिन में दिखायी देता है और न रात्रि में दिखायी देता है; अतः ब्रह्मचर्य दुर्धर है। धन्य है स्वरूपरमणतामय उत्तम ब्रह्मचर्य के धारक वीतराग मुनिवरों को!

उपसंहार

दस धर्मों के कथन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो संसार के दुःखों से उद्धार करके जीव को मोक्ष के सुख में धरता है, वही धर्म है। वह धर्म उपर्युक्त उत्तम क्षमा आदि दशलक्षणरूप है। इनके सिवाय, जिसमें सूक्ष्म भी हिंसा की परिणति होती है, वह धर्म नहीं है। शुद्धात्म-संचेतनयुता अहिंसा खलु परमो धर्मः। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा के प्रवचनांश)



अष्टपाहुड़-भावप्राभृत, गाथा 110 पर
परम पूज्य गुरुदेवश्री का वैराग्यमय प्रवचन
निरन्तर स्मरण में रखना : क्या ?

दिक्खाकालईयं भावहि अवियारदंसण विसुद्धो ।

उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिउण ॥110 ॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि हेतु हे मुने! दीक्षा प्रसङ्ग की तीव्र वैराग्यदशा को, किसी रोगोत्पत्ति के समय जागृत हुई तीव्र वैराग्य-भावना को, दुःख के प्रसङ्ग पर प्रगट हुई उदासीनता की भावना को, किसी सदुपदेश के प्रसङ्ग पर प्रगट हुई परम आस्तिक्यभावना को, किसी पुरुषार्थ के धन्य प्रसङ्ग पर जागृत पवित्र भावना को 'स्मरण में रखना... निरन्तर स्मरण में रखना....' भूलना नहीं....

(भावप्राभृत)

आचार्यदेव आनन्द की वृद्धि एवं पूर्णता का उपाय बतलाते हैं

ओहो! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि हेतु हे मुनि!यहाँ मुनि को सम्बोधते हैं... किन्तु पहली शर्त है— 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि' हेतु... अर्थात् यह तीन हैं तो सही, अब उनकी वृद्धि हेतु-इस गाथा में कहते हैं—

हे मुनि! दीक्षा के समय अतीन्द्रिय अपूर्व आनन्द से जो तीव्र विरक्तदशा हुई थी, उसका स्मरण रखना ।

सम्यग्दृष्टि जीव जब दीक्षा, अर्थात् चारित्र ग्रहण करता है, उस समय उसकी अपूर्व उत्साहित तीव्र विरक्तदशा है; मानो पर की ओर बिल्कुल लक्ष्य ही न करूँ, अन्तर में ही समा जाऊँ—ऐसी तीव्र उत्साहित विरक्तदशा उस समय होती है। शुद्ध चैतन्यनाथ अंतरतत्त्व, उसमें रमणता की वृद्धि के हेतुभूत जो वैराग्यभावसहित स्वरूप की ओर की तीव्र उन्मुखतावाला भाव, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की वृद्धि का कारण है। यह तो सच्ची दीक्षा की बात है। मुझमें अनन्त आनन्द का भण्डार भरा है; एक समय की पर्याय उसका माप करती है (कि) मैं पूर्ण हूँ। आत्मा



त्रैकालिक वस्तु है, उसमें अनन्त गुणों का वास है, वह पूर्ण ही है... पदार्थ का जो त्रैकालिक स्वभाव, उसका ज्ञानपर्याय में माप निकाला है। ज्ञान में उसका माप आने पर उसकी जो प्रतीति हुई, स्वानुभूति हुई, उसी का नाम सम्यग्दर्शन है। ज्ञान की पर्याय ने स्वरूप का माप किया—उसकी दृष्टि की, तदुपरान्त शक्तिरूप से स्वरूप में जो वैभव भरा है, उसे पर्याय में लाने के लिये अन्तररमणता करना, उसका नाम चारित्र है। भाई! उन तीनों की वृद्धिरूप यह प्रवृत्ति है। दीक्षा के समय अन्तर से वैराग्य आता है और सारी दुनिया से उदास... उदास... हो जाते हैं। उदयभाव से भी उदास!...मुनिपना, अर्थात् क्या? आहाहा!... एकदम पर से हटकर अन्तर में समा जाऊँ... बस! ऐसी दशा होती है। जयधवला में आता है न! कि दीक्षा के समय मैंने तो शुद्धोपयोग को अंगीकार किया है, अकेले शुद्धोपयोग में रहने की ही मेरी भावना है! आत्मा तो मेरी ही वस्तु है। मैं ही स्वयं अनन्त गुणों का पूर्ण स्वरूप आत्मा। उसमें अति उग्र उत्साह से रमणता करूँ—ऐसी मैंने प्रतिज्ञा की है। देखो, यह है मुनिपना! कहते हैं कि उसमें जो यह महाव्रतादि के शुभभाव आये हैं, वे मुझे नहीं रुचते... आहाहा!

दिगम्बर सन्तों की वाणी तो देखो! ऐसा मार्ग और कहाँ है भाई! अरे! आत्मा के अन्तरस्वरूप में रमणता करने की मैंने प्रतिज्ञा की है, मुझे अन्य कुछ नहीं चाहिए; उदयभाव से तो मैं मर गया हूँ, मैं तो अपने शुद्धोपयोग में ही रमता हूँ... यह पाँच-पचास वर्ष या लाख-दो लाख वर्ष, उनमें जो शुभ उपयोग आया, उसमें अटकने से तो मेरे शुद्धोपयोग का छेद हुआ, प्रतिज्ञा का भङ्ग हुआ। अहा! देखो तो, दिगम्बर सन्तों के वचन! ओहो! वीतरागता का वर्णन तो देखो! समाधिमरण का समय देह छूटने का काल है, इसलिए मैं स्वरूप में स्थिर होता हूँ, शुभभाव का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भाई! शरीर छूटने का समय तो आयगा या नहीं?—सबको आयगा। जवानों को भी?—सभी को आयगा। लेकिन भव के अभाव के समय यदि स्वभाव की संधि करे—स्वभाव में स्थिर हो तो पुनः भव न करना पड़े। मुनिराज कहते हैं—‘मैं पर से तो बिल्कुल उदास हूँ, अपने स्वरूप में पूर्ण सावधान हूँ, अपनी दीक्षा के अवसर पर आराधना के प्रति जो उल्लास था,



उसे मैं निरन्तर स्मरण में रखता हूँ; यह तो सच्ची दीक्षा की बात है।

आत्मा का जो स्वभाव—स्व-भाव—स्थायी भाव—आनन्दभाव, ज्ञानभाव, नित्यानन्दभाव, स्वरूपानन्द पूर्णता का, स्वच्छता का भाव वह मेरा भाव है। उसे मैंने अनुभव में, प्रतीति में तो लिया है, अब वहीं रमणता करता हूँ; उसका नाम चारित्र है। प्रथम जानना तो पड़ेगा या नहीं? कि ऐसी है मेरी वस्तुस्थिति! मेरे सत् का सत्व ऐसा है! परिपूर्ण आनन्द, ज्ञान, प्रभुता, वह जिसका मूल है—ऐसे आत्मा की मुझे प्रतीति तो हुई है... अब तो, दीक्षा के समय कितनी विरक्ति थी कि इसी में सदा काल समा जाऊँ... अब बाहर निकलना ही नहीं है—ऐसी अपूर्व उत्साहमय तीव्र विरक्तदशा को स्मरण में—निरन्तर स्मरण में रखते हैं।

दूसरा बोल—शरीर में रोगोत्पत्ति के समय की उग्र वेदनदशा को निरन्तर याद रखना....

शरीर तो वेदना की मूर्ति है, इसमें तो कितने भयङ्कर रोग आते हैं। बारह वर्ष की एक लड़की थी, उसे पागल कुत्ते ने काट लिया। पागलपन शुरु हुआ। अहा! देखी न जाये ऐसी भयङ्कर पीड़ा थी। न तो पानी पीती और न भोजन लेती। पीड़ा...पीड़ा...। मुझे कहीं चैन नहीं पड़ता, ऐसे रोग के समय कैसा वैराग्य हो? यदि वैराग्य करे तो! मुझे कहीं चैन नहीं पड़ता, मुझे कैसी पीड़ा हो रही है, वह मैं कह नहीं सकती। पीड़ा... पीड़ा... असह्य पीड़ा। सोना चाहे तो सो नहीं सकती, बैठना चाहे तो बैठ नहीं पाती, आहार ले नहीं सकती। यहाँ धर्मी से कहते हैं कि—‘ऐसे प्रसङ्ग का स्मरण करके शुद्धि की वृद्धि करना।’ मैं किसी का नहीं हूँ, कोई मेरा नहीं है, ऐसी दृष्टि तो हुई है; अब स्थिरता की—चारित्र की बात है। ‘वस्तु का स्वभाव वह मेरा शरण है,’ वह मुझे भासित हुआ है—ऐसी भावना करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धि को बढ़ाना।

देह की ऐसी दशा है, भाई! देह से आत्मा भिन्न वस्तु है। देखो, इस शरीर की दशा! ऐसे रोग के काल में वैराग्य की वृद्धि हुई हो, उसे याद रखना भाई! तू जीने की लालच में ऐसे रोग के काल को क्यों भूल जाता है?



लाठी (सौराष्ट्र) ग्राम की सुन्दर युवा स्त्री थी; उसके विवाह को अभी दो ही वर्ष हुए थे कि उसे चेचक निकली। रोग इतना बढ़ गया कि चेचक के हर एक दाने में इल्लियाँ पड़ गयीं। कितनी पीड़ा थी उसे? अपनी माँ से कहती कि माँ! मैंने इस भव में तो ऐसा पाप नहीं किया...! मुझसे यह सहन नहीं होता। कह नहीं सकती कि मुझे कितनी वेदना हो रही है। कुछ सूझता नहीं कि मैं क्या करूँ? ...अरेरे! बेचारी इधर करवट ले तो इधर और उधर करवट ले तो उधर बिस्तर में इल्लियाँ गिरती थीं।

इस रोग के समय को याद रखना भाई! उसे नहीं किन्तु मुझे ऐसा हो तो क्या होगा? उसका विचार करना। ऐसे भयङ्कर रोग आते हैं कि न खाना भाये न पीना; न नींद आये न जागना ठीक लगे—ऐसे रोगों का वर्णन शास्त्र में आता है। यह जो सुन्दर शरीर दिखता है, इसके एक-एक अंगुल में 96-96 रोग हैं तो पूरे शरीर में कितने? ऐसे हजारों रोग जब शरीर में उत्पन्न हों, तब खबर पड़े। अरे, रोम-रोम में रोग हो! मृत्युकाल हो, आँख से चौधार आँसू बहते हो, ऐसे समय को निरन्तर याद रखना भाई! साताशील (आरामदायक) स्वभाव को भूलकर ऐसे रोग के समय, जब कि एक क्षण भी शरीर में रहना अच्छा न लगे, अग्नि जैसी जलन हो रही हो; धर्मी जीव ज्ञान एवं वैराग्य की सम्पत्ति को याद करते हैं। 'अरे! इस शरीर के रजकण भी मेरी इच्छानुसार नहीं वर्तते तो मैं किससे कहूँ कि तू ऐसा कर।'

आचार्यदेव कहते हैं कि हे मुने! ऐसे रोग काल की वैराग्य सम्पदा को याद करना। उस काल का ज्ञान, उस काल का वैराग्य अपने आत्मा के मोक्षमार्ग की वृद्धि का हेतु जानकर, उसकी भावना करना और दुनिया को भूल जाना। दुनिया कहाँ है? क्या है? उसकी याद मत करना। दुनिया उसके घर रही... कोई तुम्हें सहायक नहीं है। यह भी स्मरण नहीं करना कि मैंने कितने मौजशौक से खाया-पिया क्योंकि खाने-पीने की रुचि में तो तेरा मरण होता था; आत्मा की शान्ति का घात होता था... अब अन्तरङ्ग शुद्धि की वृद्धि हेतु ऐसी भावना करना। आत्मा अनन्त सम्पदा का—ध्रुव का—विशाल भण्डार भरा है। अरे रे! लोगों को यह बात नहीं बैठती; किन्तु तू वस्तु है न? तू तत्त्व है या नहीं? तू पदार्थ है या नहीं? तो क्या



पदार्थ एक समय की दशा में पूरा आ गया ? वह तो त्रैकालिक पूर्ण पदार्थ है; तू उस स्वभाव के सन्मुख अपनी दृष्टि, ज्ञान एवं रमणता कर ! उस स्वभाव की वृद्धि के लिये यह निरन्तर स्मरण में रख ! निरन्तर ऐसी भावना कर !

बीस वर्ष का जवान लड़का, जिसके विवाह को दो दिन हुए हों, वह मर जाये तो उस समय कैसा वैराग्य होता है ! दुःख का प्रसङ्ग है न ? ऐसे दुःख के प्रसङ्गों में—पुत्र मर जाये, पुत्री विधवा हो जाये, मकान में आग लग जाये और बीमा कम्पनी का दिवाला निकल जाये—चारों ओर से विपत्ति आये, तब ज्ञानी को उन प्रसङ्गों पर वैराग्य आता है; उन प्रसङ्गों को तथा उस वैराग्य को याद रखना। अज्ञानी तो ऐसे प्रसङ्गों पर हा-हाकार करते हैं, किन्तु ज्ञानी को उस समय वैराग्य की धारा प्रगट होती है, वह याद रखना।

“दीक्षा का वैराग्य, रोगोत्पत्तिकाल का वैराग्य और दुःख घटनाओं पर होनेवाला वैराग्य—उन प्रसङ्गों पर हुई वैराग्य की धारा को याद करना।” सर्वत्र उदास... उदास रहना। शीतऋतु में आरोग्यवर्द्धक सालमपाक आदि बनाये हों, और बीस वर्ष का पुत्र मर जाये, तो उस समय उन खान-पान की वस्तुओं से कैसा उदास... उदास हो जाता है। अहा ! ऐसे प्रसङ्ग पर हुए वैराग्य को याद करना !

जिसे चैतन्यद्रव्य की प्रतीति हुई है कि मैं एक चैतन्यानन्द के वैभव से युक्त तत्त्व हूँ, मेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार भरा है; उसमें से निकाले उतना निकाले; उसे निकालने के लिये जिसने अन्तर में चारित्र की रमणता प्रगट की है, ऐसे धर्मी से कहते हैं कि अपनी शुद्धि को बढ़ाना।... वस्तु का स्वभाव ही मुझे शरणभूत है, वह मुझे भासित हुआ है; अब जगत में अन्य कोई शरण नहीं है, ऐसी भावना करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि करते हैं। किन्हीं मुनि या भगवान का उपदेश ग्रहण करने से जागृत हुई अथवा किसी धन्य अवसर पर प्रगट हुई तत्त्व की विचारधारा-वैराग्यधारा-पुरुषार्थधारा को प्रगट करके, उल्लसित वीर्य से प्रगट हुआ आनन्द का नाथ !—ऐसे धन्य अवसर पर प्रगट हुई पवित्र भावना को याद रखना।

भगवान तो पूर्णानन्द से भरपूर अतीन्द्रिय अपूर्वरस से छलकता हुआ



आत्मद्रव्य है। अहाहा! प्रभु! चैतन्य का निर्विकल्प स्वभाव, जिसका एक-एक गुण पूर्ण ऐसे अनंत सामर्थ्यवाला स्वभाव, उसका अनुभव करके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगट करके फिर मुनिलिङ्ग धारण करना। अपने आत्मा के आनन्द स्वभाव का वेदन करके-स्वाद में लेकर फिर उस शुद्धता का विशेष आस्वादन करने के लिये तू मुनिपना ग्रहण करना।

अहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी, किन्तु उसका मूल्य मृग को ज्ञात नहीं; उसी प्रकार इस देह-देवालय में भगवान आत्मा विराजता है, किन्तु उसका मूल्य जो नहीं जानता और जगत के पदार्थों की महिमा, विस्मयता लगती है, उसमें तो अपना अनादर होता है, भाई!

मैं तो परमानन्दस्वरूप प्रभु हूँ। उसमें स्थिर रहते हुए ही मैं पूर्णता को प्राप्त करूँगा, अन्य कोई उपाय नहीं है; इतना लक्ष्य में तो ले प्रभु! इसके बिना संसार का नाश नहीं होता, संसार में चौरासी के अवतार करना पड़ते हैं।...अहा! आचार्यदेव (वादिराज मुनिराज) कहते हैं—

**जनम जनम के दुख सहे, सब वे तुम जानो,
याद किये मुझ हिय लगे, आयुध से मानों।**

मैं पूर्वकाल के चौरासी लाख अवतारों को याद करता हूँ तो अन्तर में आयुध के घाव लगते हैं! पूर्व भवों में कुत्ता, बिल्ली, चूहा, हाथी, घोड़ा आदि हुआ... और अकेले जङ्गल में कहीं का कहीं भटकता रहा, कोई देखनेवाला तक नहीं। घास में अग्नि लगे और स्वयं अन्दर जल जाये— ऐसे तो अनन्त अवतार किये हैं प्रभु! उन अवतारों से अब बस होओ! ऐसे भव अब न हों। अरे रे! किसी को ऐसे भव धारण न करना पड़ें। आचार्यदेव अनन्त करुणा से कहते हैं कि मैं तो आठ कर्मों से रहित परमात्मा होनेवाला हूँ... किन्तु सर्व जीव ऐसे हो... कोई अपूर्ण न रहो... कोई गति में न रहो... वस्तु का कोई विरोध न करो... सब भगवान होओ! भीतर आनन्दस्वरूप प्रभु विराजता है, उसका कोई विरोध न करो नाथ! पर मैं सुख न मानो... तुममें आनन्द भरा है न! ...जगत की वस्तुएँ देखकर तुम्हें उल्लास आ जाता है, उसमें तुम्हारे स्वरूप का अनादर होता है भाई!



यादें : अतीत की.....

.....तब पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा था

मङ्गलायतन (मासिक) पत्रिका में इस स्तम्भ में, पूज्य गुरुदेवश्री के, आत्मधर्म के प्रथम अंक से उनकी उपस्थिति तक प्रकाशित आत्मधर्म में से विशेष प्रवचन / प्रवचनांश प्रकाशित किया जाएगा। —सम्पादक

आत्मा की क्रिया

प्रश्न - आत्मा क्या कर सकता है ?

उत्तर - आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वह चैतन्य के उपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

प्रश्न - यदि आत्मा, उपयोग के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता है तो फिर संसार और मोक्ष की व्यवस्था का क्या मतलब है ?

उत्तर - उपयोग के सिवाय आत्मा और कुछ नहीं कर सकता। चैतन्य के उपयोग को जब 'पर' पदार्थ की तरफ लक्ष्य रखकर परभाव में दृढ़ कर लेता है, तब यही संसार कहलाता है और जब 'स्व' की तरफ लक्ष्य करके उपयोग को स्व में दृढ़ करता है, तब यही मोक्ष कहलाता है। 'स्व' की तरफ लक्ष्य रखकर 'स्व' में दृढ़ता तथा 'पर' की तरफ लक्ष्य रख कर 'पर' की दृढ़ता, इसके सिवाय अनादि काल से और कुछ कोई जीव कर ही नहीं सका है और न अनन्त काल तक और कुछ कर ही सकेगा।

प्रश्न - यदि आत्मा, उपयोग के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर समस्त शास्त्रों से क्या लाभ है ?

उत्तर - बारह अंग और चौदह पूर्व, इन सबका उपदेश मात्र एक ही है, और वह यह कि चैतन्य का उपयोग जो पर की तरफ ढला हुआ है, उसे स्व की तरफ मोड़कर स्व में दृढ़ करना। इस प्रकार उपयोग को मोड़ करने की बात है। इसी बात को शास्त्रों में अनेक प्रकार (नय) से समझाया गया है।



प्रश्न - संसारी और मुक्त जीवों की क्रिया में क्या भेद है ?

उत्तर - चैतन्य का उपयोग, यही आत्मा की क्रिया है। निगोद से लेकर सिद्ध भगवान तक के सभी जीव, उपयोग ही कर सकते हैं; उपयोग के सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकते। भेद मात्र इतना ही है कि निगोद वगैरह संसारी जीव अपने उपयोग को पर की तरफ लगाकर परभाव में एकाग्र रहते हैं, किन्तु सिद्ध भगवान वगैरह उपयोग को अपने शुद्धस्वभाव में ढाल कर स्वभाव में एकाग्र रहते हैं, परन्तु सिद्ध या निगोद आदि कोई भी जीव, उपयोग के सिवाय परपदार्थ में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकते। स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी अथवा देव, गुरु, शास्त्र आदि भी सभी पर हैं। आत्मा उनका कुछ नहीं कर सकता। आत्मा तो मात्र उसकी तरफ शुभ या अशुभ उपयोग कर सकता है, परन्तु ये शुभ और अशुभ दोनों उपयोग, पर तरफ का होने से 'अशुद्ध उपयोग' कहा जाता है और स्व तरफ का उपयोग 'शुद्ध उपयोग' कहलाता है। इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि 'परलक्ष्य से बन्धन तथा स्व लक्ष्य से मुक्ति' होती है। 'परलक्ष्य होने पर शुभभाव हो तो भी वह अशुद्ध उपयोग ही है; अतः संसार का कारण है। जहाँ स्वलक्ष्य है, वहाँ शुद्धोपयोग ही है और वह मुक्ति का हेतु है।

(आत्मधर्म, वर्ष-1, अंक-1, वैशाख : 2002)

पृष्ठ 21 का शेष

आनन्द का सागर-आनन्दस्वरूप ही तत्त्व है। आत्मा सर्वाङ्ग आनन्द से भरपूर है, असंख्य प्रदेशों में पूर्ण आनन्द से छलकते हुए सिंधु में निमग्न हो जा। तू स्वयं ही भीतर से भगवान को जागृत कर।तुझे भगवान से पूछने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। पर की ओर जाता हुआ उत्साह एवं वीर्य वहाँ से हटकर स्वोन्मुख हो जाय, उसको उत्तम तत्त्व प्रगटता है—अतीन्द्रिय आनन्द झरता आत्मा प्रगटता है।

उस आनन्द की वृद्धि करने, उसे पूर्ण करने के लिये तू यह निरन्तर स्मरण में रखना... निरन्तर उसकी भावना करना। ●



समाधितन्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

आत्मा ही निर्मलधाम

दूसरा तो भयस्थान

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर बारम्बार उसी की भावना करने से आत्मा परमपद को प्राप्त होता है, इसलिए वह भावना करनेयोग्य है— ऐसा कहा। वहाँ प्रश्न होता है कि प्रभो! जैसी आपने कही है, वैसी भावना तो कठिन-कष्टदायक प्रतीत होती है, और बाह्य पदार्थों की भावना सरल लगती है; इस प्रकार आत्मा की भावना तो भयस्थान और बाह्य विषय निर्भय प्रतीत होते हैं तो फिर आत्मा में प्रवृत्ति कैसे हो? उसे आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि अरे जीव! जहाँ तू कष्ट और भय मानता है—ऐसे तेरे चैतन्यपद के समान अन्य कोई स्थान निर्भय एवं इष्ट नहीं है और बाह्य पदार्थों को तू निर्भयता का कारण मानता है, किन्तु उन जैसा भयस्थान अन्य कोई नहीं है—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

मोही की आशा जहाँ, नहीं वैसा भय-स्थान।

जिसमें डर उस सम नहीं, निर्भय आत्म-स्थान ॥ २९ ॥

अरे, मूढ़ जीव! चैतन्य को चूककर, तू बाह्य में शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्बादि को अभयस्थान मानकर विश्वास कर रहा है, वे तो भयस्थान हैं; बाह्य में तुझे कोई शरणभूत नहीं है। अन्तर में चैतन्यस्वभाव ही परम शरण है; उसे भयस्थान मानकर तू उससे दूर भागता है, किन्तु अरे मूढ़! तेरे आत्मा-समान अभयस्थान जगत में दूसरा कोई नहीं है।

अरे! तेरा चैतन्यतत्त्व भय का स्थान नहीं है, वह आकुलता का-दुःख का स्थान नहीं है; तेरा चैतन्यतत्त्व अभयपद का स्थान है... शान्तिस्वरूप है... आनन्द का धाम है।—ऐसे आत्मतत्त्व के अतिरिक्त बाह्य में कोई वस्तु तुझे शरणभूत नहीं है, तेरे लिये अन्य कोई निर्भयता का स्थान नहीं है। अरे!



ऐसा भगवान आत्मा अभयस्थान होने पर भी, मूढ़ जीव उससे डरते हैं, उसकी रुचि नहीं, किन्तु खेद करते हैं; परिणाम में चंचलता और सन्देह करते हैं, वही भय है। बाह्य में शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी आदि में सुख मानकर निःशङ्करूप से भयरहित वर्तते हैं, किन्तु उनमें कहीं सुख नहीं है, वे कोई शरण के स्थान नहीं हैं। एक चैतन्यपद ही अभय है... वही शरण का स्थान है... इसलिए निर्भयरूप से उसमें प्रवर्तन करो—ऐसा 'पूज्यपादस्वामी' का उपदेश है।

जो चैतन्यस्वभाव के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं करता और बाह्य में रुचि लाकर वर्तता है, उसे चैतन्य का डर लगता है। जिसे भय का स्थान माने, उसमें कैसे वर्तेगा? और जिसे अभयस्थान मानता हो, उसे क्यों छोड़ेगा? अज्ञानी को चैतन्यस्वभाव का विश्वास नहीं आता; इसलिए निःशङ्करूप से उसमें उल्लास नहीं करता। उससे दूर भागकर विषयों के समीप उल्लासपूर्वक जाता है... उनमें सुख का विश्वास करता है... जिस प्रकार मृग, मृगजल के पीछे दौड़ता है; उसी प्रकार वह विषयों की ओर दौड़ता है... बाह्य विषयों को शरण मानकर उनके पीछे आतुरता से दौड़ता है और आकुलता से दुःखी होता है।

जहाँ सुख की सत्ता विद्यमान है—ऐसे अपने आत्मा का विश्वास नहीं करता, उसमें आस्था नहीं रखता, वहाँ तो नास्तिक बन जाता है और बाह्य में सुख न होने पर भी, वहाँ सुख मानकर दौड़ता है। जिस प्रकार जिस मनुष्य को विषैले सर्प ने काटा हो, वह कड़वे नीम को भी प्रेम से चबा लेता है; उसी प्रकार जिसे मिथ्यात्वरूपी काले सर्प का विष चढ़ा है, वह जीव, दुःखदायक इन्द्रिय-विषयों को भी सुखदायक मानकर उनकी ओर दौड़ता है। इन्द्रिय-विषय तो एकान्त भय के-दुःख के स्थान हैं और यह अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही अभयस्थान एवं सुख का धाम है। चैतन्योन्मुखता में आनन्दरस का अनुभव होता है, इसलिए तू अपने शुद्ध चैतन्यपद का अनुभव कर—ऐसा सन्तों का उपदेश है।

समयसार में भी आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मा के अनुभव का ही उपदेश दिया है। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—प्रभो! आप प्रथम से ही शुद्ध



आत्मा के अवलम्बन का उपदेश देते हैं, परन्तु वह तो कष्टदायक प्रतीत होता है; कोई व्यवहार का अवलम्बन बतलाइये! तब आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! व्यवहार के (शुभराग के) अवलम्बन में तेरा हित नहीं है, उसमें तो मात्र दुःख ही है; और चैतन्यतत्त्व आनन्द का सागर है, उसमें सुख है; इसलिए शुद्धनय द्वारा उसी के अनुभव का उद्यम कर; वहीं से हित का प्रारम्भ होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्मा के लिये हितकारी हैं, तथापि अज्ञानी उन्हें अहितकर-कष्टरूप मानते हैं और विषय-कषाय आत्मा के लिये अहितकर हैं, तथापि अज्ञानी उनमें हित मानकर वर्तते हैं।

‘छहढाला’ में कहते हैं कि—

‘रागादि प्रगट जे दुःखदेन, तिनहीं को सेवत गिनत चैन।’

‘आतमहित-हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्ट दान।’

देखो, यह अज्ञानी के लक्षण! रागादि विभाव दुःखरूप होने पर भी, मूढ़ता से उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करता है और ज्ञान-वैराग्य आत्मा के हित का हेतु होने पर भी, मूढ़ जीव उन्हें कष्टदायक मानता है। आत्मज्ञान को कष्टदायक समझकर उससे दूर भागता है और रागादि को सुखदायी मानकर उनकी ओर रुचिपूर्वक दौड़ता है। यह कैसी मूढ़ता है!! अज्ञानी जीवों की ऐसी प्रवृत्ति के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीव!—

“अनन्त सुख नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता,

अनन्त दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता!

उघाड़ न्याय नेत्रने, निहाल रे! निहाल तुं,

निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, ते प्रवृत्ति बाल तुं।”

अहा, जो अनन्त सुख का धाम है—ऐसे चैतन्यस्वभाव में तो तुझे मित्रता नहीं रही—उसमें उत्साह और प्रेम नहीं आया; तथा अनन्त दुःख के धाम ऐसे जो बाह्यविषय, उनमें तुझे प्रेम-उत्साह आया; यह कैसी विचित्रता है!! अरे जीव! अब अपने ज्ञानचक्षुओं को खोल! भाई! तेरा स्वभाव



दुःखरूप नहीं है, उस स्वभाव के साधन में किञ्चित् कष्ट नहीं है और बाह्य विषयों की ओर की वृत्ति एकान्त दुःखरूप है, उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है। इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करके अपने अन्तरस्वभाव की ओर उन्मुख हो और बाह्य विषयों में सुखबुद्धि छोड़कर उनसे निवृत्त हो। नित्य निर्भयस्थान एवं सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है—

‘सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिनरात रहें तद् ध्यानमंही;’

अनन्त सुख का धाम ऐसा जो चैतन्यपद, उसे चाहनेवाले सन्त दिन-रात उसके ध्यान में रहते हैं; इसलिए हे जीव! तू अपने चैतन्यपद का विश्वास करके, जगत में मेरा चैतन्यपद ही सुख का धाम है—ऐसा दृढ़ विश्वास करके निर्भरूप से स्वभावोन्मुख हो... स्वभाव के निकट जाने से तुझे स्वयं को खबर पड़ेगी कि अहा! यह तो महा आनन्द का धाम है; इसकी साधना में कष्ट नहीं है किन्तु वह तो कष्टक्षय का उपाय है.. यही मेरा निर्भय पद है।

चैतन्यस्वभाव में भीतर प्रवेश न करे, अरे! उसके निकट भी न आये और यों ही दूर से कष्टरूप मानकर उससे दूर भागे तथा विषयों की ओर दौड़े तो ऐसे मूढ़ जीव की चैतन्यध्यान में प्रवृत्ति कहाँ से होगी? इसलिए आचार्यदेव करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे जीव! जिनमें तू सुख मान रहा है—ऐसे इन्द्रियविषयों के समान अन्य कोई भयस्थान नहीं है और जिसमें तू कष्ट मान रहा है—ऐसी परमात्मभावना के अतिरिक्त कोई अभयस्थान नहीं है। भवदुःखों से तेरी रक्षा करे, ऐसा कोई अभयस्थान इस जगत में हो तो वह तेरा परमात्मतत्त्व ही है; इसलिए उसकी भावना में उद्यत हो।;

जैसे, किसी को विषैले सर्प ने काटा हो और विष चढ़ा हो तो वह कड़वा नीम भी प्रेम से चबा लेता है; उसी प्रकार जिसे मिथ्यारुचिरूपी विष चढ़ा है, वह जीव, दुःखदायी ऐसे विषय-कषायों को सुखदायी समझकर उसमें संलग्न रहता है। पुनश्च, जिस प्रकार पित्तज्वरवाले रोगी को मीठा दूध भी कड़वा लगता है; उसी प्रकार जिसे विपरीत रुचि का रोग लागू हुआ है—ऐसे बहिरात्मा को परम सुखदायक ऐसी आत्मस्वरूप की भावना



भी कष्टरूप प्रतीत होती है—ऐसी विपरीत बुद्धि के कारण ही अज्ञानी जीव, आत्मस्वरूप की भावना नहीं भाता, किन्तु विषय-कषाय की ही भावना भाता है। सन्त-मुनि जहाँ आत्मस्वरूप की भावना की बात कहते हैं, वहाँ—‘अरे! यह हम से कैसे हो सकता है? आत्मा ज्ञान हमें कहाँ से होगा?’—इस प्रकार भड़ककर भयभीत हो जाता है। अपने से यह हो ही नहीं सकता—ऐसा मानकर उसमें निरुत्साही रहता है और बाह्य विषयों में ही उत्साहरूप वर्तता है; इसीलिए जीव अनादि काल से दुःखी हो रहा है। वास्तव में इस जीव को अपने परमात्मतत्त्व की भावना के समान जगत में अन्य कोई तत्त्व सुखदायी नहीं है; इसलिए वह भावना ही कर्तव्य है।

जिस प्रकार पहली बार राजदरबार में राजा के निकट जानेवाले को अपरिचितपने के कारण किञ्चित् क्षोभ या भय मालूम होता है, किन्तु जिसे बारम्बार राजा का परिचय हो गया है, उसे राजा के निकट जाने में क्षोभ या भय नहीं होता, किन्तु हर्ष होता है; उसी प्रकार चैतन्यराजा के दरबार में पहली बार आत्मानुभव का प्रयत्न करनेवाले को अनभिज्ञता के कारण कुछ कष्ट जैसा लगता है, किन्तु रुचिपूर्वक बारम्बार चैतन्यराजा का परिचय करने पर वह सुगम-सहज एवं आनन्दरूप प्रतीत होता है... और बारम्बार चैतन्यतत्त्व की भावना करके उसी में तल्लीन रहना चाहता है; इसलिए चैतन्यतत्त्व की भावना वास्तव में कष्टरूप नहीं है, किन्तु आनन्दरूप है—ऐसा विश्वास लाकर हे जीव! तू बारम्बार उसकी भावना कर।

अरे! अभी तक अपने सुख को भूलकर तूने पर में सुख माना है... तू भ्रम से भूलकर दुःखी हुआ है। अरे! स्व-पद दुर्गम (कठिन) और पर-पद सुगम—ऐसा मानकर तूने स्व-पद की अरुचि की... और पर-पद को अपना बनाने का व्यर्थ परिश्रम करके दुःखी हुआ। न तो परवस्तु कभी आत्मा की हुई है और न होती है। यह चैतन्य ही तेरा स्व-पद है, वही तुझे शरण है, किन्तु तूने कभी अपने चैतन्य की शरण नहीं ली; इसलिए अरे जीव! अपने निर्भय चैतन्यपद को जानकर, उसमें निःशङ्करूप से एकाग्र हो। परवस्तुएँ और रागादि तो अपद हैं—अपद हैं! यह शुद्ध चैतन्य ही तेरा



स्वपद है-स्वपद है! धर्मी जानता है कि जगत की चाहे जैसी प्रतिकूलता हो, वह कहीं भयस्थान नहीं है। मेरा चैतन्यस्वरूप अभय है। मैं निःशङ्करूप से चैतन्य में वर्तता हूँ; उसमें मुझे कोई संयोग, भय उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है; मेरे चैतन्य दुर्ग में परसंयोगों का प्रवेश ही नहीं है; फिर भय किसका? अज्ञानी बाह्य संयोग में शरण मानकर—निर्भयता मानकर उसमें वर्तते हैं; किन्तु वह तो सचमुच भय का स्थान है। जिन्हें शरणभूत माना है, वे संयोग एक क्षण में दूर हो जायेंगे.... जिन माता-पिता या पुत्र को शरणभूत माना है, वे एक क्षण में न जाने कहाँ उड़ जायेंगे....लक्ष्मी और शरीर कहीं चले जायेंगे... इसलिए उनमें कहीं भी अभयस्थान नहीं है। जगत के किसी भी पदार्थ का संयोग ऐसा ध्रुव नहीं है कि जो शरणभूत हो सके! अरे, संयोग की ओर वर्तता हुआ तेरा ज्ञान भी एक क्षण में पलट जायेगा; उसमें भी तेरी शरण नहीं है; एक आतमराम ही तुझे शरणभूत है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसी में रमणता कर! वही अभयस्थान है। ●

निम्न नवीन प्रकाशन तीर्थधाम मङ्गलायतन में उपलब्ध हैं—

- (1) **परमाध्यात्म तरंगिणी** (आचार्य अमृतचन्द्रदेव रचित समयसार कलश पर शुभचन्द्रदेव कृत संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद) मूल्य=50.00
- (2) **तत्त्वज्ञान तरंगिणी** (भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा रचित ज्ञान-वैराग्य एवं अध्यात्म का सरल ग्रन्थ) मूल्य=35.00
- (3-4) **समयसार सिद्धि**, भाग-2 (पूर्वाद्ध-उत्तराद्ध) (श्री समयसार गाथा 13 से 38 पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के 19वीं बार के शब्दशः प्रवचन) मूल्य=20 +20=40.00
- (5) **श्रावक साधना** (पद्मनन्दिपंचविंशति ग्रन्थ के उपासक संस्कार, देशव्रतोद्योतन एवं आलोचना अधिकार पर पूज्य गुरुदेवश्री के शब्दशः प्रवचन) मूल्य=20.00
- (6) **अमृत प्रवचन**, भाग-1 (बहिनश्री के वचनमृत पर पूज्य गुरुदेवश्री के शब्दशः प्रवचन) मूल्य=20.00
- (7) **बहिनश्री का ज्ञानवैभव** (बहिनश्री चम्पाबेन का स्वानुभूतियुक्त जातिस्मरण ज्ञान) मूल्य=20.00
- (8) **आध्यात्मिक सोपान** (ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ) मूल्य=40.00

सम्पर्कसूत्र—तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा रोड, सासनी-204216 (उ.प्र.)



मोक्ष शब्द से सात तत्त्वों की सिद्धि



आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ, यथा नाम तथा गुण कहावत को चरितार्थ करता है, अर्थात्, मोक्षमार्ग का प्रकाश करता है, मोक्षमार्ग प्रगट करने का उपाय बताता है।

प्रथम 'मोक्ष' शब्द ही सम्पूर्ण जैनशासन को स्वयं में समेटे हुए है — क्योंकि मोक्ष, सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना है। मोक्ष, संवर व निर्जरापूर्वक होता है। शुद्धि का प्रगट होना, **संवर** व शुद्धि की वृद्धि होना, **निर्जरा** है। संवर और निर्जरा, आस्रव-बन्ध के अभावपूर्वक होते हैं। शुभाशुभविकारीभावों का उत्पन्न होना, **आस्रव** और शुभाशुभविकारीभावों में अटकना, **बन्ध** है। आस्रव-बन्ध, अजीवतत्त्व के निमित्त से होते हैं। जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जाये, वे **अजीवतत्त्व** हैं। आस्रव-बन्ध का अभाव और संवर-निर्जरा-मोक्ष की प्राप्ति, जीवतत्त्व के आश्रय से होती है। जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह **जीवतत्त्व** है।

जीवतत्त्व का आश्रय लेना कैसे बने? जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है — ऐसे मुझ निजात्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं; उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही जीवतत्त्व का आश्रय स्वयंमेव हो जाता है। — इस प्रकार मात्र 'मोक्ष' शब्द स्वयं में परिपूर्ण है।

(पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, मङ्गल देशना)



समाचार-दर्शन

तीर्थधाम मङ्गलायतन में
बहिनश्री चम्पाबेन का जन्म शताब्दी समारोह
रक्षाबन्धन महापर्व पर संगोष्ठी

तीर्थधाम मङ्गलायतन : चलते-फिरते सिद्धसमान, चलती-फिरती धर्म की मूर्ति, चलते-फिरते जैनशासन ऐसे दिगम्बर मुनिराजों की रक्षा का महान पर्व 'रक्षाबन्धन महापर्व' बड़े ही हर्षोल्लास के साथ तीर्थधाम मङ्गलायतन में मनाया गया, जिसमें दिन की शुरुआत उन सात सौ दिगम्बर मुनिराजों की पूजन से हुई, तदुपरान्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के ग्रन्थाधिराज समयसार पर सी.डी. प्रवचन का लाभ मिला, उसके बाद उन दिगम्बर मुनिराजों की महिमा हमारे अन्दर कैसे प्रगटे?—इस दृष्टि से पण्डित संजय जैन शास्त्री के माध्यम से कथा का आयोजन किया गया, जिसमें सभी श्रोताओं के अन्दर धर्म की रक्षा करने के भाव उमड़ पड़े और इसके बाद 'साधर्मी वात्सल्य मिलन' के माध्यम से एक दूसरे को रक्षासूत्र बाँधकर जिनधर्म की रक्षा का प्रण लिया।

और सायंकालीन बेला उन्हीं दिगम्बर मुनिराजों की भक्ति से प्रारम्भ हुई और इसके बाद 'वात्सल्य' विषय पर एक सुन्दर गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें मङ्गलार्थी सिद्धान्त जैन, दीपेश जैन, सरल जैन, भावेश जैन, सत्यं जैन और विपिन जैन ने विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये एवं उपस्थित विद्वानों ने भी वात्सल्य की महत्ता पर अपने गम्भीर विचार व्यक्त किये। कार्यक्रम का सफल सञ्चालन मङ्गलार्थी सोमिल जैन ने किया। इस प्रकार मुनिराजों के गुणगान के साथ यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

तीर्थधाम मङ्गलायतन : जन्म और मरण होना संसार का नियम है, लेकिन इस वसुन्धरा पर कुछ महापुरुष ऐसे भी हैं, जो अपना नाम इस धरा पर अमर कर गए, जन्म लेना अच्छी बात नहीं, लेकिन जिन्होंने जन्म लेकर जन्म-मरण के अभाव का मार्ग पाया और हमें जन्म-मरण से रहित होने का मार्ग बता दिया, ऐसी बहिनश्री चम्पाबेन का जन्म शताब्दी वर्ष तीर्थधाम मङ्गलायतन में बड़े ही हर्ष एवं उमंग के साथ मनाया गया। इस महोत्सव का आयोजन त्रिदिवसीय कार्यक्रम के रूप में 21 अगस्त 2013 से 23 अगस्त 2013 तक किया गया। जिसके अन्तर्गत प्रथम दिन विशेष कार्यक्रम में पूज्य गुरुदेवश्री का 'बहिनश्री के वचनामृत' के बोल नम्बर



1 और 2 पर सी.डी. प्रवचन हुआ तथा रात्रि में बहिनश्री की तत्त्वचर्चा के माध्यम से आत्मानुभव सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान किया गया और अन्त में इसी विषय पर मङ्गलार्थियों के माध्यम से प्रश्न पूछे गए। द्वितीय दिन मङ्गलायतन द्वारा निर्मित 'सम्पूर्ण बहिनश्री के वचनामृत की डी.वी.डी.' के माध्यम से 50 बोल तक चर्चा हुई और इसके बाद अनेक मङ्गलार्थियों ने जो 'बहिनश्री के वचनामृत' के बोल याद करके सुनाये उन्हें पुरस्कार दिया गया और तृतीय दिन भी बहिनश्री के गुणगान गाते हुए, उनके जीवन से परिचित होते हुए, जीवन सफल करने की प्रेरणा लेते हुए, आत्मानुभव का मार्ग समझते हुए कार्यक्रम पूर्ण हुआ। इस प्रकार मङ्गलमय कार्यक्रम, मंगलमय उपलब्धियों के साथ समाप्त हुआ।

रविवारीय सांस्कृतिक शृंखला में अद्भुत नाटिकाद्वय का प्रदर्शन

तीर्थधाम मङ्गलायतन में सञ्चालित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन द्वारा प्रत्येक रविवार को ज्ञानवर्धक सांस्कृतिक कार्यक्रम कराये जाते हैं। इस बार मङ्गलार्थियों द्वारा अल्प समय में तैयार की गई दो नाटिकायें प्रस्तुत की गयीं। एक का नाम था **मोह हारा ज्ञान जीता** और एक का नाम था **वैयावृत्ति**। दोनों नाटक ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत थे। जिसमें बैस्ट अभिनय की उपाधि मङ्गलार्थी अनितेश करेली ने प्राप्त की। अन्त में मङ्गलायतन के सभी विद्वानों अपने उद्बोधन द्वारा मङ्गलार्थियों का उत्साहवर्धन किया।

विद्यानिकेतन के सभी मङ्गलार्थी छात्र इन सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ-साथ प्रतिदिन बालबोध से लेकर समयसार तक का अध्ययन भी यहाँ के सौम्य वातावरण में करते हैं। समय-समय पर बाहर से भी विशेष विद्वानों का लाभ प्राप्त होता है। आप भी यहाँ पधारकर वीतरागी तत्त्वज्ञान का लाभ अर्जित कर सकते हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन पर रोडवेज बसों का ठहराव सुनिश्चित

तीर्थधाम मङ्गलायतन : समस्त साधर्मी बन्धुओं को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि अब तीर्थधाम मङ्गलायतन परिसर पर उत्तरप्रदेश परिवहन निगम की बस सेवा उपलब्ध हो सकेगी। यात्रियों के आवागमन की कठिनाईयों को देखते हुए तीर्थधाम मङ्गलायतन के अनुरोध पर शासन द्वारा बसों का ठहराव सुनिश्चित किया गया है। जिसका लाभ आप प्राप्त कर सकेंगे।